

रोविंदरपाल सिंह बनाम यूनियन टेरिटरी, चंडीगढ़

न्यायाधीश एम. एम. पुंछी

रोविंदरपाल सिंह -याचिकाकर्ता।

बनाम

यूनियन टेरिटरी, चंडीगढ़-प्रतिवादी

क्रिमिनल माइस। नं. 5926-एम सन् 1985

29 नवंबर, 1985

दंड प्रक्रिया संहिता (1974 का II)-धारा 167 (5)-अभियुक्त पर समन मामले में मुकदमा चलाने की मांग की गई-अभियुक्त की गिरफ्तारी की तारीख से छह महीने के भीतर जांच पूरी नहीं हुई-मजिस्ट्रेट की अनुमति के बिना छह महीने की समाप्ति के बाद जांच जारी रखना-क्या पूरी जांच कानूनी रूप से खराब होती है-मजिस्ट्रेट-क्या मामले का संज्ञान लिया जा सकता है-अभियुक्त-क्या आरोप मुक्त करने का हकदार है -धारा 167 (5) का प्रावधान-का वास्तविक महत्व और महत्व -बताया गया है।

अभिनिर्धारित किया गया कि यदि अभियुक्त की गिरफ्तारी की तारीख से छह महीने के भीतर अन्वेषण पूरा नहीं होता है, तो पुलिस के पास उपलब्ध विकल्पों में से एक मजिस्ट्रेट से अन्वेषण जारी रखने की अनुमति लेना है और उसके इनकार करने पर सत्र न्यायालय से अनुमति प्राप्त करना है और यदि अनुमति से अंततः इनकार कर दिया गया था, तो दूसरा विकल्प अब तक की गई जांच के आधार पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत करना था। इनमें से किसी भी स्थिति में, मजिस्ट्रेट या तो कार्यवाही को छोड़ सकता है, यदि कोई अपराध नहीं किया गया है या यदि वह संतुष्ट है कि कोई मामला है जो मुकदमे के लिए जाना चाहिए तो संज्ञान ले सकता है। यदि पुलिस न्यायालय की अनुमति के बिना जांच जारी रखती है, तो केवल जांच का वह भाग जो न्यायालय की अनुमति के बिना जारी रखा गया है, जो विधि की दृष्टि से गलत होगा और मजिस्ट्रेट इसका उपयोग यह निर्धारित करने के लिए नहीं कर सकता है कि क्या वह कार्यवाही को छोड़ देगा या संज्ञान लेगा। किसी भी स्थिति में जांच पूरी तरह से कानूनी रूप से खराब नहीं हो जाती है और यदि छह महीने से पहले की अवधि का मुकदमा संज्ञान लेने के लिए पर्याप्त है, तो कोई कारण नहीं है कि आरोपी को केवल इसलिए आरोपमुक्त किया गया है क्योंकि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167 (5) के तहत अदालत की अनुमति के बिना अधिक जांच की गई है। महत्वपूर्ण बात यह है कि मजिस्ट्रेट की अनुमति के बिना छह महीने की अवधि से आगे जांच जारी रहने का मात्र तथ्य स्वतः ही मुकदमे के जारी रहने को अमान्य नहीं करता है। उस मामले में एकमात्र परिणाम यह है कि मजिस्ट्रेट केवल उस सामग्री को देखेगा जो छह महीने की अवधि के भीतर एकत्र की गई थी और अन्य सामग्री की अनदेखी करेगा और फिर यह तय करेगा कि संज्ञान लेना है या नहीं। अतः पूर्वाग्रह उत्पन्न होने का प्रश्न नहीं उठेगा क्योंकि संज्ञान कानूनी रूप से और अनुमत समय के भीतर की गई जांच के आधार पर होगा।

1. राम कुमार बनाम राज्य, 1981 सीआर। L.J. 1288.

2. जय शंकर झा बनाम राज्य, 1982, सीआर। L.J. 544.

रोविंदरपाल सिंह बनाम यूनियन टेरिटरी, चंडीगढ़

3. बाबू लाल बनाम राजस्थान राज्य, 1982, सीआर। L.J. 1001.

से अलग किया गया

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन आवेदन में यह प्रार्थना की गई है कि मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, केंद्र शासित प्रदेश, चंडीगढ़, दिनांक 18 सितंबर, 1985 के आक्षेपित आदेश को रद्द किया जाए और याचिकाकर्ता को मामले में आरोपमुक्त किया जाए। यह भी प्रार्थना की जाती है कि इस बीच निचली अदालत के समक्ष आगे की कार्यवाही पर रोक लगाई जाए।

याचिकाकर्ता की ओर से जे. पी. एस. संधू, अधिवक्ता।

एच. एस. बरार, स्थायी वकील, चंडीगढ़ प्रशासन और श्री पी. एस. तेजी, उनके साथ अधिवक्ता, प्रत्यर्थी की ओर से।

आदेश

न्यायाधीश एम.एम. पुंछी

1. धारा 167, क्रि.सं. की उपधारा (5) का सही अर्थ और महत्व क्या है? इस याचिका में कार्यवाही को रद्द करने के लिए इस न्यायालय के अंतर्निहित क्षेत्राधिकार का उपयोग करते हुए पीसी को सुनिश्चित करने की आवश्यकता है।

2. याचिकाकर्ता पर दंड संहिता की धारा 279/304 ए के तहत अपराध का आरोप लगाया गया था। उस संबंध में पहली सूचना पुलिस स्टेशन सेंट्रल, सेक्टर 17, चंडीगढ़ में दर्ज की गई थी। याचिकाकर्ता को 14-1-1984 को गिरफ्तार कर लिया गया। जांच एजेंसी ने इसे कोर्ट में दाखिल करने के लिए चालान तैयार किया और संबंधित जिला अटॉर्नी को सौंप दिया। 11-10-1984 को उनके द्वारा कुछ आपत्तियाँ जताने पर जाँच द्वारा चालान वापस प्राप्त हो गया। 13-10-1984 को, धारा 167, सीआर की उप-धारा (5) के प्रावधानों के तहत संबंधित मजिस्ट्रेट को आगे की जांच करने की अनुमति देने के लिए एक आवेदन दिया गया था। पी.सी. ने उसी तिथि को अनुमति प्रदान कर दी। अनुसंधान पूर्ण कर दिनांक 20-10-1984 को चालान पेश किया गया। याचिकाकर्ता ने इस दलील पर कार्यवाही जारी रखने को चुनौती दी कि उसकी गिरफ्तारी की तारीख से छह महीने की अवधि के बाद उस पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता क्योंकि यह एक समन मामले में था जिस पर मुकदमा चलाने की मांग की गई थी। विद्वान मजिस्ट्रेट की उपस्थिति में जांच के पक्ष में अनुमति प्रदान की गई। 13-10-1984 ने आवेदन खारिज कर दिया, जिससे याचिकाकर्ता को इस न्यायालय का दरवाजा खटखटाना पड़ा। विचाराधीन प्रावधान निम्नलिखित शर्तों में है:

167(5). यदि किसी मजिस्ट्रेट द्वारा सम्मन-मामले के रूप में विचारणीय किसी भी मामले में, जांच उस तारीख से छह महीने की अवधि के भीतर समाप्त नहीं होती है जिस दिन आरोपी को गिरफ्तार किया गया था, तो मजिस्ट्रेट अपराध में आगे की जांच को रोकने का आदेश देगा जब तक कि अधिकारी जांच करने से मजिस्ट्रेट संतुष्ट हो जाता है कि विशेष कारणों से और न्याय के हित में जांच को छह महीने की अवधि से आगे जारी रखना आवश्यक है।

3. इस प्रावधान ने देश में विविध राय वाले न्यायालयों का ध्यान आकर्षित किया है। आरंभ करने के लिए, राम कुमार बनाम राज्य 1981 सीआरआई एलजे 1288 में कलकत्ता उच्च न्यायालय की एक खंडपीठ ने यह विचार किया कि मजिस्ट्रेट केवल

रोविंदरपाल सिंह बनाम यूनियन टेरिटरी, चंडीगढ़

छह महीने की अवधि की समाप्ति से पहले छह महीने की अवधि से अधिक जांच जारी रखने की अनुमति दे सकता है और इसके लिए कोई निर्देश दे सकता है। वैधानिक अवधि के बाद भी इसे जारी रखना अधिकार क्षेत्र के बिना होगा। फिर जय शंकर झा बनाम राज्य 1982 सीआरआई एलजे 744 में उसी डिवीजन बेंच ने अपने पहले के दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हुए कहा कि जहां एक सम्मन मामले में, गिरफ्तारी की तारीख से छह महीने की अवधि के बाद भी जांच जारी रहती है, तो यह मजिस्ट्रेट के लिए आगे की जांच को रोकना अनिवार्य है और आरोपी को ऐसी कोई आपत्ति उठाने की आवश्यकता नहीं है। आगे यह देखा गया कि एक अवैधता एक अवैधता ही रहेगी और अभियुक्त की ओर से इसे इंगित करने में देरी या विफलता इसे अन्यथा नहीं बनाएगी अन्यथा अभियुक्त के प्रति पूर्वाग्रह का प्रश्न पूरी तरह से अप्रासंगिक हो जाएगा। साथ ही, बेंच ने यह विचार किया कि ऐसे प्रावधानों के उल्लंघन में मजिस्ट्रेट द्वारा लिया गया संज्ञान कानून की दृष्टि से गलत था और उसके बाद की कार्यवाही अधिकार क्षेत्र के बिना थी।

4. बाबू लाल बनाम राजस्थान राज्य , 1982 सीआरआई एलजे 1001 (राजस्थान) में, यह माना गया कि धारा 167(5) , सीआर. पीसी चरित्र में अनिवार्य थी और यह मजिस्ट्रेट का कर्तव्य है कि वह यह देखे कि उसकी अनुमति के बिना आरोपी की गिरफ्तारी की तारीख से छह महीने की अवधि के बाद समन मामले में कोई जांच जारी न रहे। यदि जारी रहा तो आरोपी को रिहा करना होगा।

5. राज सिंह बनाम राज्य (दिल्ली प्रशासन) (1984) 2 चंद एलआर (सीआरआई) 388: 1985 सीआरआई एलजे एनओसी 41 में दिल्ली उच्च न्यायालय की एकल पीठ ने कलकत्ता और राजस्थान उच्च न्यायालयों के उपरोक्त निर्णयों का जायजा लेते हुए, देखा। एक अलग दृष्टिकोण से प्रावधान. यह माना गया कि यह सोचना सही नहीं है कि धारा 167(5) , सीआर. पीसी ने सीआरपीसी की धारा 468 के अलावा एक सीमा अवधि निर्धारित की । पीसी जब एक निजी शिकायत पर छह महीने के बाद संज्ञान लिया जा सकता था, तो विद्वान न्यायाधीश का विचार था कि यह प्रावधान समन मामलों में आरोपी को पुलिस द्वारा उत्पीड़न से बचाता प्रतीत होता है। यह देखा गया कि यदि जांच छह महीने के भीतर पूरी नहीं होती है, तो पुलिस के पास उपलब्ध विकल्पों में से एक यह था कि वह जांच जारी रखने के लिए मजिस्ट्रेट से अनुमति मांगे और उसके इनकार करने पर, सत्र न्यायालय से अनुमति प्राप्त करे। और अगर आखिरकार अनुमति देने से इनकार कर दिया गया तो दूसरा विकल्प यह था कि अब तक की गई जांच के आधार पर रिपोर्ट सौंपी जाए. मैं इस बिंदु तक सम्मानजनक सहमति में हूं, लेकिन मुझे उनके आगे के विचार पर सहमति देने में असमर्थता का अफसोस है, शायद अनजाने में व्यक्त किया गया कि पुलिस की रिपोर्ट आवश्यक रूप से धारा 169 के तहत होनी चाहिए , न कि धारा 170 के तहत, धारा 173 , सीआर के साथ पढ़ी जानी चाहिए । पीसी अगली सांस में, जो दृष्टिकोण अपनाया गया, जिससे मैं सम्मानजनक सहमत हूं, वह यह है कि इनमें से किसी भी स्थिति में, मजिस्ट्रेट या तो कार्यवाही को छोड़ सकता है, यदि कोई अपराध नहीं हुआ है या यदि वह संतुष्ट है तो संज्ञान ले सकता है। यह एक ऐसा मामला है जिसकी सुनवाई होनी चाहिए। इसके अलावा अभी भी यह माना गया है कि यदि पुलिस ऐसा नहीं करती है और अदालत की अनुमति के बिना जांच जारी रखती है, तो ऐसी जांच सीआरपीसी की धारा 167 की उप-धारा (5) के प्रावधानों के अनुसार कानून की दृष्टि से खराब है। पीसी अनिवार्य है और मजिस्ट्रेट प्रस्तुत रिपोर्ट पर संज्ञान नहीं ले सकता है और उसे आरोपी को आरोपमुक्त कर देना चाहिए। जैसा कि स्पष्ट है, यह शब्दों में विरोधाभास है। यह जांच का केवल वह हिस्सा है, जिसे न्यायालय की अनुमति के बिना जारी रखा गया है, जो कानून की दृष्टि से गलत होगा और मजिस्ट्रेट इसका उपयोग यह निर्धारित करने के लिए नहीं कर सकता है कि वह कार्यवाही छोड़ देगा या संज्ञान लेगा। किसी भी स्थिति में संपूर्ण जांच कानून की नजर में खराब नहीं हो जाती। और यदि छह महीने से पहले की

रोविंदरपाल सिंह बनाम यूनियन टेरिटरी, चंडीगढ़

अवधि की जांच संज्ञान लेने के लिए पर्याप्त है, तो मुझे कोई कारण नहीं दिखता कि आरोपी को केवल इसलिए बरी कर दिया जाए क्योंकि धारा 167(5) के तहत अदालत की अनुमति के बिना अधिक जांच की गई है।, करोड़। पीसी को इस प्रकाश में ही समझा जा सकता है कि स्पष्ट विरोधाभास को हल किया जा सकता है। इस न्यायालय के अंत में इस तरह के विचार को व्यक्त करने की आवश्यकता है, जैसा कि राज सिंह के मामले 1985 सीआरआई एलजे एनओसी 41 (दिल्ली) (सुप्रा) पर भरोसा करते हुए, डॉ. जेएस परवाना बनाम राज्य (1985) में इस न्यायालय की एक माननीय एकल पीठ ने किया था। 12 सीआरआई एलटी 189 से आरोपी को डिस्चार्ज किया गया। राज सिंह के मामले (सुप्रा) की समझ पर यह विशेष रूप से फैसला सुनाया गया था कि यदि किसी समन मामले में आरोपी की गिरफ्तारी के छह महीने बाद पुलिस द्वारा चालान पेश किया गया था और जांच एजेंसी ने मजिस्ट्रेट की अनुमति नहीं ली थी तो उसे जारी रखा जा सकता है। अभियुक्त की गिरफ्तारी की तारीख से छह महीने बाद जांच, मजिस्ट्रेट मामले का संज्ञान लेने में सक्षम नहीं था। और इस प्रकार उस एकमात्र आधार पर याचिकाकर्ता के खिलाफ आरोप तय करने का मजिस्ट्रेट का आदेश रद्द कर दिया गया।

6. राज सिंह के मामले 1985 सीआरआई एलजे एनओसी 41 (सुप्रा) में लिए गए दृष्टिकोण की सत्यता की जांच दिल्ली उच्च न्यायालय की एक डिवीजन बेंच द्वारा की गई जिसमें राजिंदर सच्चर और मलिक शरीफ-उद-दीन, जेजे शामिल थे। राज्य बनाम जय भगवान 1985 सीआरआई एलजे 932 में, और दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया गया था। डिवीजन बेंच ने राज सिंह के मामले (सुप्रा) का जिक्र करते हुए इस प्रकार कहा:

आदर के साथ हम एकमत नहीं हो पाते. विद्वान न्यायाधीश अनियमितता और अमान्य जांच के बीच अंतर करते हैं और पहला केवल सीआर के तहत इलाज योग्य होता है। पीसी यह एचएन रिशबड बनाम दिल्ली राज्य (सुप्रा) में सुप्रीम कोर्ट के फैसले के विपरीत है, जिसमें कहा गया है कि अनिवार्य प्रावधानों के खिलाफ एक अमान्य जांच भी संज्ञान लेने के बाद मुकदमे की निरंतरता को प्रभावित नहीं करेगी। हम धीरे-धीरे देख सकते हैं कि यह प्राधिकरण भी मानता है कि मुकदमा उस जांच के आधार पर आगे बढ़ सकता है जो गिरफ्तारी की तारीख से छह महीने की अवधि के भीतर हुई थी। इस प्रकार, इस सीमित बिंदु पर भी, निश्चित रूप से, हम फैसले में संकेत देंगे कि जांच जारी रखने के लिए मजिस्ट्रेट से अनुमति लेने में कोई रोक नहीं है, भले ही छह महीने की अवधि समाप्त हो गई हो। मजिस्ट्रेट के फैसले ने पहले यह पता लगाने की कोशिश किए बिना कार्यवाही को रद्द कर दिया कि छह महीने की अवधि के भीतर जांच एजेंसी द्वारा एकत्र की गई सामग्री परीक्षण के लिए पर्याप्त थी या नहीं।

दुर्भाग्य से, इस न्यायालय के माननीय एकल न्यायाधीश ने डॉ. जेएस परवाना के मामले 1985 12 सीआरआई एलजे 189 (सुप्रा) का फैसला करते हुए इस बात से अवगत नहीं कराया कि राज सिंह का मामला 1985 सीआरआई एलजे एनओसी 41 (दिल्ली) (सुप्रा) अब अच्छा कानून नहीं है। जय भगवान के मामले 1985 सीआरआई एलजे 932 (सुप्रा) में बाद के डिवीजन बेंच के फैसले के मद्देनजर दिल्ली उच्च न्यायालय ने स्वयं।

7. इसके अतिरिक्त, जब कलकत्ता और राजस्थान उच्च न्यायालयों के विचारों के विरुद्ध पढ़ा जाता है तो दिल्ली उच्च न्यायालय की खंडपीठ का दृष्टिकोण मुझे अधिक स्वीकार्य लगता है, विशेष रूप से उन विचारों के दृढ़ विश्वास के लिए। इसके कुछ अंश उपयोगिता और प्रभावकारिता के साथ इस निर्णय का हिस्सा बन सकते हैं:

लेकिन जिस बात पर महत्वपूर्ण जोर दिया गया है वह यह है कि मजिस्ट्रेट की अनुमति के बिना छह महीने की अवधि से अधिक समय तक जांच जारी रहने का तथ्य स्वचालित रूप से मुकदमे की निरंतरता को रद्द नहीं करता है। उस मामले में

रोविंदरपाल सिंह बनाम यूनिजन टेरिटरी, चंडीगढ़

एकमात्र परिणाम यह होगा कि मजिस्ट्रेट केवल उस सामग्री को देखेगा जो छह महीने की अवधि के भीतर एकत्र की गई थी और अन्य सामग्री को नजरअंदाज कर देगा और फिर निर्णय लेगा कि संज्ञान लेना है या नहीं। इसलिए पूर्वाग्रह उत्पन्न होने का सवाल ही नहीं उठता क्योंकि संज्ञान जांच के आधार पर होगा जो कानूनी रूप से और अनुमत समय के भीतर आयोजित किया गया था।

XXX XXX XXX इससे पता चलेगा कि सुप्रीम कोर्ट यह स्वीकार करता है कि मजिस्ट्रेट के पास सीआरपीसी की धारा 167(5) के तहत क्षेत्राधिकार है। पीसी जांच को छह महीने की अवधि के बाद भी जारी रखने की अनुमति दे, भले ही इस अवधि के बाद अभियोजन पक्ष द्वारा इस उद्देश्य के लिए कोई आवेदन दिया गया हो। इससे यह भी पता चलता है कि अगर अनुमति नहीं दी गई है तो भी अभियोजन पक्ष आरोप-पत्र दायर करने के लिए खुला है, अगर तब तक की गई जांच इस तरह के पाठ्यक्रम की मांग करती है। यह आधिकारिक घोषणा स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि वर्तमान मामले में मजिस्ट्रेट द्वारा प्रतिवादियों को सीधे बरी करने का जो तरीका अपनाया गया, क्योंकि जांच छह महीने की अवधि से अधिक समय तक जारी रही थी, वह कानून और मिसाल के तौर पर पूरी तरह से असमर्थनीय है।

XXX XXX XXX यह माना जाना चाहिए कि इसमें दो प्रतिस्पर्धी सार्वजनिक हित शामिल हैं, नागरिक की स्वतंत्रता और कानून का आदेश है कि आम तौर पर जांच छह महीने की अवधि के भीतर पूरी की जानी चाहिए। लेकिन समान रूप से सार्वजनिक हित की मांग है कि सामान्य नागरिक के जीवन को खतरे में डालने वाले दंडात्मक प्रावधान का उल्लंघन कथित रूप से अति तकनीकी और गैर-पर्याप्त आधारों पर कानून की पकड़ से बच नहीं जाना चाहिए। इसलिए, आम तौर पर जब तक यह न्याय के हित में न हो और अभियोजन पक्ष द्वारा पर्याप्त कारण न बताए जाएं, मजिस्ट्रेट द्वारा विस्तार उपलब्ध नहीं होगा, लेकिन यह देखने के लिए एक और प्रतिस्पर्धी सार्वजनिक हित भी है कि जांच की लापरवाही या उदासीनता या मिलीभगत के कारण एजेंसी, आपराधिक न्यायशास्त्र का प्रशासन पूरी तरह से अप्रभावी नहीं हो गया है जिससे जनता में असंतोष पैदा होगा। वर्तमान मामले में, ट्रायल कोर्ट ने भी स्वीकार किया है कि वह जो दृष्टिकोण अपना रहा था उसके गंभीर परिणाम होंगे। यहाँ एक व्यक्ति है जिसके बारे में कहा जाता है कि उसने तेजी से और लापरवाही से गाड़ी चलाई जिसके परिणामस्वरूप तीन व्यक्तियों की मृत्यु हो गई और दो व्यक्तियों को चोट पहुँची और उसे बिना मुकदमे के बरी करने का आदेश केवल इसलिए दिया जा रहा है क्योंकि अभियोजन पक्ष ने छह महीने के भीतर आरोप पत्र दाखिल नहीं किया था। . सार्वजनिक हित भी इस चरम परिणाम के विरुद्ध आदेश देता है जो कार्यवाही को योग्यता के आधार पर निर्णय के बिना, सीमा पर ही समाप्त करने की अनुमति देगा।

8. ये दिल्ली उच्च न्यायालय की खंडपीठ की महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ हैं जिनसे मैं सम्मानपूर्वक सहमत हूँ। याचिकाकर्ता किसी भी राहत का हकदार नहीं है, भले ही विद्वान मजिस्ट्रेट द्वारा समय विस्तार दिए जाने से पहले उसकी बात नहीं सुनी गई हो। वास्तव में उस चरण में उसे सुनने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि यह मजिस्ट्रेट और जांच के बीच था। विद्वान मजिस्ट्रेट ने जांच जारी रखने की अनुमति देने के लिए प्रथम दृष्टया कारण बताए थे और वे आदेश इन कार्यवाहियों में चुनौती का विषय नहीं हैं। यह अलग रखते हुए कि उस स्तर पर याचिकाकर्ता की बात सुनी गई या नहीं। यह केवल बाद का आदेश है जिसके तहत विद्वान मजिस्ट्रेट ने अभियुक्त को आरोपमुक्त करने से इनकार कर दिया था जिसे इन कार्यवाहियों में चुनौती दी गई थी। विद्वान मजिस्ट्रेट का दृष्टिकोण कानून के अनुसार है, यह निर्विवाद है और इस प्रकार उनका आदेश बरकरार रखा जाता है।

रोविंदरपाल सिंह बनाम यूनियन टेरिटरी, चंडीगढ़

9. ऊपर जो कहा गया है और देखा गया है, इस याचिका में स्पष्ट रूप से कोई योग्यता नहीं है जो विफल हो जाती है और तदनुसार खारिज कर दी जाती है।

अस्वीकरण: स्थानीय भाषा में अनुवादित निर्णय वादी के सीमित उपयोग के लिए है ताकि वह अपनी भाषा में इसे समझ सके और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। सभी व्यावहारिक और आधिकारिक उद्देश्यों के लिए निर्णय का अंग्रेजी संस्करण प्रमाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य के लिए उपयुक्त होगा।

अनुराग यादव
प्रशिक्षु न्यायिक अधिकारी
Trainee Judicial Officer
नारनौल, हरियाणा